डॉ० इंदरराज बैद

जैन धर्म में नारी

मानव समाज के दो महत्वपूर्ण अंग है नर और नारी। दोनों मिलकर मानवीय व्यक्तित्व को पूर्णांग बनाते हैं। नर के बिना नारी का और नारी के बिना नर का अस्तित्व अपूर्ण और निरर्थक है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। परिवार रूपी रथ के पहिए होते हैं स्त्री और पुरुष, दोनों ही समान, सुदृढ़ और गतिमान। दोनों ही सृष्टि की सुन्दर कलाकृतियाँ हैं, श्री, धी, शक्ति और चिति से संम्पन्न इन मानवीय चरित्रों को विकास के समस्त उपादान प्रकृति ने समान रूप से उपलब्ध कराये हैं। नयूनाधिक मात्रा में पौरुष और सौष्ठव दोनों को प्रदान किये गये हैं। दोनों में ही समान रागात्मकता है,संवेदना और करुणा है, उच्चाशयता और मानवीयता है। दैहिक विशेषताएँ भिन्न होने पर भी आत्मिक धरातल पर स्त्री और पुरुष में विभेद नहीं होता। चारों गतियों के प्राणियों के संबंध में स्पष्ट उद्घोष है **एगे आया** अर्थात् आत्मा एक है (समवायांग १/१) नर-नारी की समानता का यह स्वर सभी धर्मों में प्रतिध्वनित हुआ है। धर्म ही नहीं, संसार का प्रत्येक सभ्य और प्रबुद्ध समाज स्त्री पुरुष को बराबरी का स्तर देता है। धर्म तो आत्मिक विकास की समस्त सरणियाँ स्त्री-पुरुषों के लिए खोल देता है। उपासना यदि मार्ग है और मुक्ति यदि उसका फल है तो कोई भी धर्म उसकी प्राप्ति से न पुरुष को वंचित करता है, न नारी को। धर्म में पक्षपात और अन्याय नहीं होता।

जैन धर्म भारतवर्ष का अतिप्राचीन धर्म है। जैन शब्द के मूल में 'जिन' है, जिसका अर्थ है पंच इंद्रियों को जीतनेवाला और राग-द्वेष विजेता। जिन या जिनेन्द्र प्रवर्तित होने के कारण धर्म का जैन अभिधान प्रचलित हुआ। इस धर्म के अनुसार प्रत्येक आत्मा ईश्वर या परमात्मा स्वरूप होती है। परमात्मा आत्मा की सिद्धावस्था को कहते हैं। आत्मा जब कर्मों के आच्छादन को विदीर्ण करके अनावृत और निर्बंध हो जाती है तो पूर्ण रूपेण परमात्मा बन जाती है। इसी परमात्मा स्वरूप को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक जीवात्मा जन्म-जन्म में अनेक प्रकार से साधना करती है। शनैः शनैः कर्मों का क्षय होने लगता है और ईश्वरत्व प्रकट हो जाता है। यह आत्मा कभी नारकीय गति में जाती है तो कभी तिर्यंच गति में, कभी देवता बनती है तो कभी मनुष्य। मानवीय रूप कभी पुरुष का भी हो सकता है और कभी स्त्री का भी। स्वयं को विमुक्त करने में नारीत्व बाधक नहीं होता। जैन धर्म कहता है कि यदि पुरुष साधना करते हुए मोक्ष जा सकता है तो स्त्री भी अधिकारिणी बन सकती है। असंख्य अणगारी और सागारी साधिकाएँ भवचक्र से विमुक्त होकर सिद्ध हुई हैं। और भविष्य में भी होती रहेंगी। तीर्थंकरत्व प्राप्त करने की पात्रता पुरुषों की तरह स्त्रियों में भी स्वीकार की गई है।

जैन धर्म में चौबीस तीर्थंकरों को परम संपूज्य माना गया है। धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक को तीर्थंकर कहते हैं। रत्नत्रय अर्थात् सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य की अनुपालना करता हुआ कोई भी साधक अर्हत् अवस्था तक पहुँच सकता है और अपना आयुष्य कर्म पूरा करके सिद्धत्व पा लेता है। पर सभी सिद्ध आत्माएँ तीर्थंकर नहीं होती। केवल वे आत्माएँ ही तीर्थंकर पद प्राप्त करती हैं जो अर्हत् स्थिति में पहुँचने के बाद उपदेष्टा बनकर लोककल्याण के लिए प्रेरणा देती हैं, धर्म-शासन का सूत्रपात करती हैं और भवसिंधु से पार उतरने के लिए धर्म-तीर्थ की उपस्थापना करती हैं। जैन मान्यता के अनुसार वर्तमान कल्प में चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। भगवान ऋषभदेव प्रथम और भगवान महावीर अंतिम तीर्थंकर हैं। बीच के बाईस तीर्थंकर सहस्त्रों वर्षों के अंतराल में हुए हैं। इन तीर्थंकरों में एक महिमामयी नारी रत्न भी है, जो मल्लीनाथ के रूप में प्रतिष्ठित है। मिथिला के महाराजा कुंभ और महारानी प्रभावती की पुत्री राजकुमारी मल्ली का अपने पूर्व जन्मों के संपूर्ण कर्मों का अंत करके महाभिनिष्क्रमण करना और परम आराधनीय तीर्थंकर पद प्राप्त करना इसी बात का प्रमाण है कि नारी भी आध्यात्मिक साधना के सर्वोच्च शिखर का आरोहण कर सकती है। पुरुषार्थ पर केवल पुरुष का ही नहीं, स्त्री का भी समान अधिकार होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन परंपरा में असंख्य नारियों ने कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त किया है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव जो आदिनाथ के रूप में पूजे जाते हैं, की माता मरुदेवी सिद्धत्व को पानेवाली पहली सन्नारी थी। नाभिराय और मरुदेवी पावन दंपति थे, जिनकी दिव्य संतति थे ऋषभदेव। इनके दो पुत्र भरत और बाहुबली तथा दो पुत्रियाँ ब्राह्मी और सुन्दरी क्रमशः सुमंगला और सुनंदा की कुक्षी से उत्पन्न हुए थे। कहते हैं अक्षरों का प्रवर्तन ब्राह्मी ने किया था और अंकों का सुंदरी ने। इन दोनों बहिनों ने अपने भाई बाहुबली को प्रबोधन देकर अहंकार से छुटकारा दिलाया था जिससे वे मुक्ति का वरण कर सके। यथा:

आज्ञापयाति तातस्त्वां ज्येष्ठार्य भगवनिदम् ।
हस्ती स्कन्धा रूढानां केवलं न उपद्यते।।

अर्थात् हे ज्येष्ठ आर्य! भगवान का उपदेश है कि हाथी पर बैठे साधक को कैवल्य की प्राप्ति नही होती। बाहुबली ने मन में विचार किया कि वे अहंकार रूपी हाथी पर ही तो आरूढ़ हैं। क्षण भर में गर्व चूर-चूर हो गया और पश्चाताप के साथ निर्मल विनय भाव के उदित होते ही मुक्ति श्री ने जयमाला उनके गले में डाल दी। इस प्रकार ब्राह्मी और सुन्दरी ने केवल स्वयं का ही नहीं, अपने भाई का भी आत्मोद्धार कर दिया।

अस्तु, जैन धर्म में नारियों को सदैव सम्मान की दृष्टि से देखा गया है। उद्बोध न देकर पुरुषों को सुधारने और उन्हें सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करने वाली सन्नारियों के सैकड़ों दृष्टांत इतिहास में उजागर हुए हैं। एक ऐसा ही प्रेरक उदाहरण है सती राजीमती का। महाभारत काल में श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे अरिष्टनेमि। वे वसुदेव भ्राता शौरिपुर के राजा समुद्रविजय और महारानी शिवा देवी के पुत्र थे। उनका विवाह महाराज उग्रसेन की पुत्री राजुल के साथ निश्चित किया गया। अरिष्ट नेमि की बारात जब नगर के समीप पहुँचती तो पशु-पक्षियों का आर्त्तनाद सुनाई दिया। यह पता चलने पर कि बारात के सत्कार व भोज की व्यवस्था के लिए सामिष आहार हेतु पशु-पक्षियों का वध किया जायेगा। अरिष्टनेमि का हृदय काँप उठा और वे दूल्हे के वेश को तत्क्षण उतारकर अरण्य की ओर प्रस्थान कर गये। विवाह-मंडप में सन्नाटा छा गया। वधू राजकुमारी राजुल को जब अरिष्ट नेमि के निष्क्रमण का पता चला, तो वे भी उनका अनुसरण करती हुई गिरनार पर्वत पर साधना के लिए चली गई। अरिष्ट नेमि के छोटे भाई ने भी साधना स्वीकार कर ली। उसका नाम था रथनेमि। एक बार वर्षा में भीगकर साधिका राजीमती एक कंदरा में जाकर अपने गीले वस्त्रों को एकांत में सुखा रही थी कि रथनेमि की दृष्टि उस पर पड़ गई। मोहित और कामांध रथ नेमि के अभ्रद्र प्रस्ताव को सुनकर उसे प्रताड़ित करती हुई राजुल कहती है।

पक्खंदेजलियं जोइं धूमकेउं दुरासयं।
णेच्छंति वन्तयं भोत्तुं कुले जाया अगन्धणे।
धिरत्थु तेडजसो कामी जो तं जीविय कारणा।
वन्तं इच्छासि आवेउं सेयं ते मरणं भवे।

(उत्तराध्ययन २२/४२-४३)

अर्थात् अगंधन कुल का सर्प आग में जल कर मर जाना पसंद करेगा, पर वमन किये हुए विष को पीना कभी नहीं चाहेगा, हे कामी, तू वमन की हुई चीज को पीना चाहता है, इससे तो तेरा मर जाना ही अच्छा है। कितनी तीव्र व्यंजना थी। जिसे भ्राता अरिष्ट नेमि त्याग चुके थे। उसे भोगने की इच्छा करना की हुई उल्टी को निगलना ही तो था। रथनेमि की आँखें खुल गई। ऐसी ही फटकार तुलसीदास जी को रत्नावली ने भी लगाई थी। उत्तराध्ययन सूत्र, जिसमें तीर्थंकर महावीर के वचन संगृहीत हैं, यह प्रसंग उल्लिखित है। इसे यहाँ उद्धृत करने का ध्येय यह दर्शाना है कि जैन संस्कृति में नारी के शील और सतीत्व को बहुत महत्व दिया गया है।

सतीतत्व अर्थात् चारित्रिक शुद्धता में नारी की महीयता मानी जाती थी। जैन जगत में सती उन नारियों को कहा जाता है जो अपने शील की रक्षा, धर्म के पालन और संयम साधना में अडिग रहकर अपनी आत्मा का उद्धार करती है। जैन-इतिहास में सोलह सतियाँ नित्य वंदनीय मानी गई हैं। उनसे प्रार्थना की जाती है कि वे मानव जाति का मंगल करें। यथा :

ब्राह्मी चंदनबालिका भगवती राजीमती द्रौपदी।
कौशल्याच मृगावती च सुलसा सीता सुभद्रा शिवा।
कुन्ती शीलावती नलस्य दायिता चूला प्रभावत्यपि।
पद्मावत्यपि सुन्दरी दिनमुखेकुर्वन्तु नो मङ्गलम् ।।

जैन दृष्टि अनेकांतवादी और उदार रही है। ऐसे अनेक दृष्टांत मिलते हैं जहँ एक ही छत के नीचे रहनेवाले पति पत्नी, सास-बहू आदि परिजन धार्मिक दृष्टि से स्वयं को स्वतंत्र अनुभव करते थे। महावीर और बुद्ध समकालीन थे। एक ही परिवार में दोनों के अनुयायी प्रेम से रहते थे। कालांतर में यह व्यवस्था छिन्न-भिन्न अवश्य हो गई पर तत्कालीन धार्मिक सहजीवन से पता चलता है कि महिलाओं को अपने-अपने भावों के अनुरूप उपासना करने की स्वतंत्रता थी। इससे नारी के प्रति उदार दृष्टिकोण का पता चलता है। आधुनिक समय में भी कई जैन परिवारों में उपासना की स्वतंत्रता देखी जा सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन-परंपरा नारियों के समान अधिकारों के प्रति आरंभ से ही पार्यप्त जागरूक रही है। भगवान महावीर ने अपने अनुयायी समाज को चार भागों में बाँटा था–साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। यह वर्गीकरण जो श्रमण संस्कृति की विशिष्ट देन है, समानता के आदर्श को संस्थागत रूप देता है। इन चारों वर्गों को तीर्थं की संज्ञा दी गई है। चारों तीर्थों को एक-दूसरे का सम्मान करने और उनके हित साधना में सचेष्ट रहने का विधान किया गया। वर्धमान महावीर के समय जैन संघ में लगभग चौदह हज़ार साधु या श्रमण और लगभग छत्तीस हजार साध्वियाँ या श्रमणियाँ थी। श्रावकों की संख्या लगभग एक लाख उनसठ हजार और श्राविकाओं की संख्या लगभग तीन लाख अठारह हजार थी। इससे पता चलता है कि धर्म के अनुपालन में महिलाओं का प्रभाव पुरूषों की अपेक्षा अधिक था। जैन धर्म में स्त्रियों की प्रशंसनीय भूमिका रही है। गृह स्वामिनी के रूप में तो वे आदरणीय थीं ही पर साध्वी जीवन अपनाने के बाद तो वे अधिक पूजनीया बन जाती थी। महावीर ने घोषित किया था कि प्रत्येक देहात्मा स्वतंत्र है और उसे मुक्त होकर परमात्मा बनने का अधिकार है। नारी होने के कारण उसे मुक्ति के मौलिक अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता, अतीत का यह उदार दृष्टिकोण आज भी आंशिक रूप में समाज में व्याप्त है।

धर्म का एक प्रमुख अंग है तपश्चरण। कहा भी गया है– 'धम्मो मङ्गलमुकिट्ठम अहिंसा संजमोतवो'' वर्त्तमान काल में भी धर्म महिमामयी माताओं और बहिनों की तप-साधना के कारण जीवित और स्वस्थ है। इसे धर्म का पर्याय मानकर महिलाओं ने अपनाया है। प्रतिवर्ष आठ दिनों के उपवास की तपस्या, जिसे अट्ठाई कहते हैं, घर-घर में संपन्न की जाती है। छोटी अवस्था में ही जैन बालिकाएँ अपने कर्मों को तपाग्नि में भस्मीभूत करने की चेष्टा आरंभ कर देती है। तप इंद्रियों के विषयों पर अंकुश लगाने का दूसरा नाम है। आत्म-नियंत्रण का यह अद्भुत पराक्रम है। व्यावहारिक धरातल पर जैन धर्म ने अहिंसा के बाद जिस तत्व पर सर्वाधिक बल दिया, वह तपस्या ही है। यह संतोष और गौरव की बात है कि जैन बालिकाएँ और महिलाएँ तप के धर्म तत्व को जीवन में उतारने का बेजोड़ उत्साह और साहस दिखा रही हैं। धार्मिक परिप्रेक्ष्य में यह एक शुभ लक्षण है।

नारायण अपार्टमेन्ट, चेन्नई

■

शिक्षक दिवस

'शिक्षक' कब सामान्य व्यक्ति है, वह तो शिल्पकार होता है।
गीली मिट्टी को सँवारने वाला कुंभकार होता है।।

उसने ही श्रीराम गढ़े हैं, वह ही है श्रीकृष्ण निर्माता।
वह ही समर्थ रामदास है, छत्रपति सा शिवा प्रदाता।

दयानंद, विवेकानंद को उसका शिल्प सँवार देता है।।
वह साँचा होता है जिसमें, महामानव ढाले जाते हैं।
और राष्ट्र के नररत्नों के सुखद स्वप्न पाले जाते हैं।
छात्रों में मानव मूल्यों का वह ही प्रवेश द्वार होता है।।

उसके चिंतन पर, चरित्र पर सम्राटों के सिर झुकते हैं।
धर्म, समाज, राष्ट्र के उलझे प्रश्नों के उत्तर मिलते हैं।
श्रेष्ठ राष्ट्र-निर्माता होता, वह ऋषितुल्य विचार होता है।।

लेकिन उसके शिल्पकार को, जाने क्या हो गया इन दिनों।
उसका चिंतक और मनीषी जाने क्यों सो गया इन दिनों।
उसके गौरव पर, गरिमा पर आए दिन प्रहार होता है।।

वह व्यसनों का दास हो गया, और अर्थ ही लक्ष्य बनाया।
आचारों से शिक्षण देने का आचार्य नहीं रह पाया।
शिक्षक दूषित राजनीति का आए दिन शिकार होता है।।

छात्र कहाँ सम्मान करेंगे, उनसे यारी गाँठ रहा है।
अभिभावक आदर क्या देंगे, स्वार्थसिद्धि का दास रहा है।
शिक्षक 'शिक्षक-दिवस' मनाए, यह उल्टा व्यवहार होता है।।

'शिक्षक-दिवस' तभी सार्थक है, शिक्षक अपना मूल्य बढ़ाए।
जनमानस भी श्रद्धानत हो उसके प्रति आभार जताए।
शिक्षक श्रद्धापात्र जहाँ है, वहाँ राष्ट्र निखार होता है।।

सौजन्य : **अखंड ज्योति**

■

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org